कि
कल और आना जी !
इसका भी भविष्य उज्ज्वल हो
करुणा इस ओर भी लाना जी !
अतिथि की हल्की - सी मुस्कान
कुछ बोलती सी !
यह भविष्य में जीता नहीं
अतीत का हाला पीता नहीं
यही इसकी गीता है
सरगम - संगीता है,
देखो ! क्या होता है
जिसके बीच में रात
उसकी क्या बात ?
और वह देखता रह जाता फलों का दल
सुदूर तक दिखती
अतिथि की पीठ
पुनरागमन की प्रतीक्षा में.....

□□□

गीली आँखें

इसे निर्दयता कहना
अनुचित होगा
अपनी चरम - सीमा सूँघती हुई
निरीहता नितान्त है
निरभ्र - नभ में,
पूत - प्रतिमा सी पीठ
प्रतिफलित है
ध्रुव की ओर उठते चरण दिख रहे
किन्तु सारी करुणा सिमट कर
आँखों में चली गई है,
वे आँखें और कहाँ दिखतीं कहाँ दिखतीं
और कहाँ देखती
मुड़ कर इसे
नीली आँखें!
और ईहा की सीमा पर
आकुल अकुलातीं
इसकी दोनों
पीली - पीली
हो आती
गीली आँखें।

□□□

हास्य के कण

वह कौन - सा मानस है
जिसके भीतर
कुछ अपूर्व घट रहा है
जिसका उद्‌घाटन
उठती हुई लहरों पर लहरें
करती जा रही हैं,
हर लहर पर
हास्य के कण
बिखरे हैं ..... बिखरते जा रहे हैं
और यह भी मानस
जिसके नस - नस
जल रहे हैं
इसके भीतर
बड़वानल उबल रहा अभाव का,
तभी तो जीवन सत्त्व
राख बने,
काले काले बाल के मिष
बाहर आ उभरे हैं
जिन पर मोहित हैं
शाम सवेरे
जहरीली नज़रें

□□□

सातत्य

मृदु मंजुलता
ललित लता पर
कल तक थी
मुकुलित कली
आज उषा में
खुली खिली है
और सुषमा
सुरभि लेकर!
कल रहेगी
काल - गाल में
कवलित होकर !
किन्तु सत् की
कमनीयता वह
सातत्य ले साथ
सब में ढली है
उसकी छवि
किसे मिली है?

□□□

आभा की डूब

जहाँ तक आभा की बात है
वह निश्चित
प्रकृति की गन्ध है,
जो
पुरुष की पकड़ में
इन्द्रियों के आधार से
आज तक आई है,
चाहे नीलाभ हो
या हीराभ!
चाहे हरिताभ हो
या रक्ताभ,
किन्तु आज यह
इस पुरुष को पकड़ना चाहती है
जो सब अभावों से
अतीत हो जी रहा है।

□□□

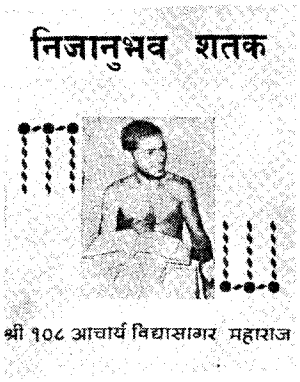

निजानुभव शतक

निजानुभव शतक

बसंततिलका छन्द

जो जानते सकल लोक तथा अलोक,
ना-मान यान परिरूढ़ सदा अशोक।
ऐसे महेश, वृषभेश, प्रभो! जिनेश,
रक्षा करें मम, मुझे सुख दें विशेष।।१।।

थे ज्ञानसागर गुरु मम प्राण प्यारे,
थे पूज्य साधु गण से बुध मुख्य न्यारे।
शास्त्रानुसार चलते, मुझ को चलाते,
बन्दूँ उन्हें विनय से, शिर को झुकाते।।२।।

वाणी जिनेन्द्र - कथिता दुखहारिणी है,
संत्रस्त भव्य जन को सुखदायिनी है।
तेरा करूँ स्तवन मैं अयि अंबदेवी!
तो शीघ्र ही बन सकूँ निज आत्मसेवी।।३।।

सम्बोधनार्थ निज को कुछ मैं लिखूँगा,
शुद्धोपयोग जिससे द्रुत पा सकूँगा।
सन्ताप, पाप, सपने अपने तजूँगा,
तो वीतरागमय भाव सदा भजूँगा।।४।।

है जीव का अमिट जो उपयोग रूप,
होता वही विविध है, जड़ से अनूप।
शुद्धोपयोग जब हो भव का वियोग,
दे स्वर्ग, मौक्ष क्रमवार शुभोपयोग।।५।।

देता अतीव दुख है अशुभेपयोग,
ऐसा सदैव कहते बुध सन्त लोग।
सारे सुधी अशुभ को तज योग धारे,
पाये पवित्र पद को शिव को पधारे।।६।।

मिथ्यास्वरूप वह है अशुभोपयोग,
सम्यक्त्व रूप यह सत्य शुभोपयोग।
संसार हो प्रथम से सहसा अनन्त,
दूजा परीत कर दे अयि देव सन्त!।।७।।

संसार क्षार जल में वह है गिराता,
शुद्धोपयोग पय को यह है पिलाता।
रे! काल - कूट इक हे दुख दे नितांत,
तो एक औषध समा सुख दे प्रशान्त ।।८।।

देही बने अशुभ से, भव में गुलाम,
विश्राम ही न मिलता, न मिले स्वधाम।
तो भी न मूढ़ यह भूल सुधारता है,
मोही न गूढ़ निज तत्त्व विचारता है।।।६।।

साधू सुधी धरम को उर धार ध्याता,
पाता पता परम का, बनता विधाता।
अज्ञात जो सुचिर था वह ज्ञात होता,
जीता निजीय सुख को दुख सर्व खोता।।१०।।

जो अन्य का परिचयी, निज का नहीं है,
होता सुखी न वह, चूँकि परिग्रही है।
जो बार - बार पर को लख फूलता है,
संसार में भटकता वह भूलता है।।।११।।

जो - जो सुखार्थ जड़ को जब हैं जुटाते,
पाते नहीं सुख कभी दुख ही उठाते।
क्या कूट भूस तृण को हम धान्य पाते,
अक्षुण्ण कार्य करते थक मात्र जाते। ।।१२।।

विज्ञान को सहज ही निज में जगाना,
रे! हाट जाकर उसे न खरीद लाना।
तू चाहता यदि उसे अति शीघ्र पाना,
आना नहीं भटकना न कहीं न जाना।।१३।।

सीमा न है सहज की, वह है अनन्त,
ऐसे जिनेन्द्र कहते अरहंत सन्त।
है ज्ञानगम्य, अतिरम्य, न शब्दगम्य,
तेजोमयी, अतुलनीय तथा अदन्य।।१४।।

आकाश सदृश विशाल, विशुद्ध सत्ता,
योगी उसे निरखते वह बुद्धिमत्ता।
सत्यं शिवं परम सुन्दर भी वही है,
अन्यत्र छोड़ उसको सुख ही नहीं है।।१५।।

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह,
मूढ़ात्म को विषय की दिन - रैन चाह।
साधू न किन्तु पर में सुख को बताते,
क्या नीर के मथन से नवनीत पाते?।।।१६।।

तादात्म्य मान निज का जड़ देह साथ,
हा!हा! कदापि कर तू मत आत्मघात।
क्यों तू मुधा अमृत से निज पाद धोता,
धिक्कार व्यर्थ विष पीकर प्राण खोता।।।१७।।

साक्षात्कार प्रभु से जब लों न होता,
संसारि जीव तब लों भव बीच रोता।
पट्टी सु साफ करता नहिं घाव धोता,
कैसे उसे सुख मिले, दुख–बीज बोता। ।।१८।।

स्वाधीनता, सरलता, समता, स्वभाव,
तो दीनता, कुटिलता, ममता, विभाव।
जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपल नाव नहीं बचाव। ।।१९।।

तेरे लिए भव असम्भव भव्य! भावी,
होता न मोह तुझ पे यदि तीव्र हावी।
है मोह भाव भव में सबको भ्रमाता,
निर्मोह भाव गह जीव बने प्रमाता।।।२०।।

जो जानते निज निरंजन ज्ञान को हैं,
और आत्मलीन रहते, तज मान को हैं।
हों प्राप्त क्यों न उनको सुर सिद्धियाँ भी,
जावें जहाँ सुख मिले, मिलता वहाँ भी। ।।२१।।

जो राग द्वेष करते, धर नग्न भेष,
पाते जिनेश! वृषभेष! न सौख्य लेश।
ना मोक्ष मात्र कच - लुँचन कर्म से हो,
साधु नहीं बसन मुँचन मात्र से हो। ।।२२।।

आनन्द - आत्म - रस का मुनि नित्य लेता,
होता वही अति सुखी, जिन शास्त्र वेत्ता।
तो रोष–तोष तजता, बनताऽरि–जेता,
क्रीडा करे सतत मुक्ति–रमा–समेता।।।२३।।

मेरी खरी शरण है, मम शुद्ध आत्मा,
होते सुशीघ्र जिससे वसु कर्म खात्मा।
जो सत्य है, सहज है, निज है, सुधा है,
तृष्णा नहीं, न जिसको लगती क्षुधा है।।।२४।।

आकाश में कठिन पत्थर फेंक देना,
जैसा निजीय कर से सिर फोड़ लेना।
वैसा सदैव करता निज आत्मघात,
जो एकता समझता जड़ - देह साथ। ।।२५।।

नादान, दीन, मतिहीन, कुशील, मोही!
क्यों "सार है" कह रहा, जड़ देह को ही।
तू काँच में रम रहा, तज दिव्य हीरा!!!
क्यों घास तू चर रहा, तज मिष्ट सीरा। ।।२६।।

होती यदा सहज ही, निज की प्रतीति,
सारी तदा विनशती, रति, ईति, भीति।
है जागती, उछलती, निज नीति रीति,
तो छुटती न रहती, जड़ - देह प्रीति। ।।२७।।

ज्योत्स्ना जगे, तम टले, नव चेतना है,
विज्ञान–सूरज छटा तब देखना है।
देखे जहाँ परम पावन है प्रकाश,
उल्लास, हास, सहसा, लसता विलास।।।२८।।

मोही सदैव पर में सुख ढूँढता है,
जो झूलता विषय में नित फूलता है।
पाता अतः नियम से मृग भाँति क्लांति,
स्वामी! नहीं दुख टले, मिलती न शान्ति।।।२६।।

ज्ञानी कभी न रखता पर की अपेक्षा,
शुद्धात्मलीन रहता, सब की उपेक्षा।
माला गले शिव–रमा फिर क्यों न डाले,
या पास क्यों न उसको सहसा बुला ले।।।३०।।

कारुण्य भाव उर लाकर धार बोधी,
क्यों तू बना सु चिर से निजधर्म द्रोही।
विश्वास तू धरम में कर, श्रेष्ठ सो ही,
विश्राम ले, अब जरा, तज मोह मोही। ।।३१।।

ना बाल, लाल, न ललाम, न नील काला,
तू तो निराल, कल, निर्मल शील वाला।
तू शीघ्र बोधमय ज्योति शिक्षा जला ले,
अज्ञात को निरखले, शिव सौख्य पाले।।।३२।।

रे मूढ़! तू जनमता, मरता, अकेला,
कोई न साथ चलता, गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ पूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी विछुड़ के जब अन्त बेला।।।३३।।

मैं कौन हूँ? किधर से अब आ रहा हूँ,
जाना कहाँ इधर से कब जा रहा हूँ।
ऐसा विचार यदि तू करता न प्राणी,
कैसे तूझे फिर मिले वह मुक्ति रानी।।।३४।।

चक्री बने सुर बने तुम सार्वभौम,
पै अन्त में फल मिला, सुख का विलोम।
तो अग्नि में सहज शीतलता कहाँ है?
जो उष्णता धधकती रहती वहाँ है।।।३५।।

ध्रौव्य सत्ता नहीं जनमती उसका न नाश,
पर्याय का जनन केवल और हास।
पर्याय है लहर, वारिधि सत्य सत्ता,
ऐसा सदैव कहते, गुरु देव वक्ता। ।।३६।।

पर्याय को क्षणिक को लक्ष मूढ़ रोता,
सामान्य को निरखता, बुध तुष्ट होता।
विज्ञान की विकलता दुख क्यों न देगी?
तृष्णा न क्षार जल से मिटती, बढ़ेगी। ।।३७।।

दीवार है अमित और अवरुद्ध द्वार,
क्यों हो प्रवेश निज में जब हैं विकार।
कैसे सुने जब कि अन्दर मुक्ति नार,
जो आप बाहर खड़े, करते पुकार।।३८।।

स्थायी निजीय सुख है, वह है असीम,
तो सौख्य ऐंद्रियज है, दुख है, ससीम।
तू अन्तरंग बहिरंग निसंग होता,
तो शीघ्र दुख टलता, सुख सत्य जोता।।३९।।

देखे! नदी प्रथम है निज को मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रुप पाती।
व्यक्तित्त्व को, अहम्को, मद को मिटा दे,
तू भी स्व को सहज में, प्रभु में मिलादे। ।।४०।।

ये नाम, काम, धनधाम सभी विकार,
तू शीघ्र त्याग इनको, बन निर्विकार।
साकार हो फिर सभी तव जो विचार,
साक्षात्कार प्रभु से, निज में विहार।।४१।।

निस्सार जान तजते, बुध लोग भोग,
होते सुखी नियम से उर धाम योग।
नीरोगता जब मिले, रहता न रोग,
होता सुयोग सुख का, दुख का वियोग।।४२।।

अत्यन्त हर्ष सुख में, दुख में विषाद,
क्यों तू सदैव करता अति दीन-नाद।
लेता निजीय रस का तब लौं न स्वाद,
संसार में भटक तू जब लौं प्रमाद।।४३।।

ना सम्पदा न विपदा रहती सदा है,
दोनों अहो! प्रवहमान, मृषा मुधा है।
स्थायी नहीं क्षणिक जो मिटती उषा है,
काली वहीं तदुपरान्त घनी निशा है।।४४।।

खाना खिला, जल पिला, तन को सुलाता,
तू देह की मलिनता, जल से धुलाता।
चिंता नहीं पर तुझे निज की अभी भी,
कैसे तुझे सुख मिले, न मिले कभी भी।।४५।।

स्वादिष्ट है अशन तू इसको खिलाता,
घी दूध और सरस पेय तथा पिलाता।
तो भी सदा तृषित पीड़ित मात्र भूखा,
रे मूढ़ ! कार्य तब है कितना अनूखा।।४६।।

आत्मा रहा, रह रहा, चिर औ रहेगा,
कोई कदापि उसको न मिटा सकेगा।
विश्वास ईदृश न हो अयि भव्य लोगो !!!
सारे अरे! सुचिर दुस्सह दुख भोगो।।४७।।

है आँख का विषय पुद्गल पिंड मात्र,
ऐसा मुनीश कहते, यह सत्य शास्त्र।
आत्मा अमूर्त नित है, वह ज्ञानगम्य,
चैतन्य-सौध सुख-धाम न चक्षुगम्य।।४८।।

क्या हो गया समझ में मुझ को न आता,
क्यों बार बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता,
पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता।।४६।।

होता सुखी स्व-पर बोध बिना न जीव,
रोता सदीव, दुख को सहता अतीव।
स्वामी ! प्रणाम मम हो उसको अनन्त,
पीड़ा मिटे, बल मिले जिससे ज्वलंत।।५०।।

धोखा दिया स्वयम् को अब लौं अवश्य,
जाना गया न हमसे निज का रहस्य।
ऐसी दशा जब रही सब की हमारी,
तो क्यों हमें वह वरे वर मुक्ति-नारी।।५१।।

तू कौन है? विदित है? कुछ है पता भी,
क्यों मौन है? स्मरण है निज की कथा भी?
तू जानता न निज को, न सुखी बनेगा,
संसार दुख सहता, भ्रमता फिरेगा।।५२।।

तू बार बार मरता, तन धार धार,
पीड़ा अतः सह रहा, उसका न पार।
जो भोग लीन रहता, तज आत्म-ध्यान,
होता नहीं वह सुखी अय भव्य! जान।।५३।।

विज्ञान मूल यह है, सुख वैभवों का,
होता विनाश वह दुख कई भवों का।
भानू उगे, तम टले, उज़ला प्रभात,
उल्लास, हास ,सहसा सुख एक साथ।।५४।।

आधार सत्य सुख का जब आत्मा है,
तू क्यों भला भ्रमित हो पर में रमा है।
ज्ञानी कभी न तुझसे पर में रमेंगे,
साधु कभी न भव कानन में भ्रमेंगे।।५५।।

शुद्धात्म का न यदि संस्तव तू करेगा,
आनन्द का न झरना तुझ में झरेगा।
संसार में जनम ले कब लौं मरेगा?
तू देह का वहन यों कब लौं करेगा?।।५७।।

जो भी जहाँ जगत में कुछ दृश्यमान,
स्थायी नहीं वह सभी, क्षण नश्यमान।
क्या जन, मान मन! तू करतातिमान,
क्यों तू वृथा नित व्यथा सहता महान्।।५७।।

ना नारकी न नर वानर मैं न नारी,
हूँ निर्विकार पर निर्मल बोधधारी।
आदर्श सादृश विशुद्ध स्वभाव मेरा,
मेरा नहीं जड़मयी यह देह डेरा।।५८।।

मेरी खरी, सुखकरी रमणी क्षमा है,
शोभावती भगवती जननी प्रमा है,
मैं बार-बार निज को करता प्रणाम,
आनन्द नित्य फिर तो दुख का न नाम।।५९।।

ब्रह्मा ,महेश, शिव मैं,मम नाम "राम"
मेरा विराम मुझ में, मुझ में न काम।
ऐसा विवेक मुझ को अधुना हुआ है,
सौभाग्य से सहज द्वार अहो ! खुला है।।६०।।

माता पिता, सुत, सुता, वनिता व भ्राता,
मेरे न ये, न मम है इन संग नाता।
मै एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से,
मैं शुद्ध हूँ भरित बोधमयी सुधा से।।६१।।

दारा नहीं शरण है, मनमोहिनी है,
देती अतीव दुख है, भववर्धिनी है।
संसार कानन जहाँ वह सर्पिणी है,
मायाविनी अशुचि है, कलिकारिणी है।।६२।।

काले घने जलद के दल डोलते हैं,
जो व्योम में "गड़गड़ाहट" बोलते हैं।
पै मौन मेरु सम वे ऋषि लोग सारे,
शुद्धात्म चिंतन करें, निज को निहारें।।६३।।

वर्षा घनी, मुसल-धार, अपार नीर,
योगी खड़े स्थिर, दिगंबर है शरीर।
आश्चर्य पै न उनके मुख पै विकार,
पीड़ा व्यथा दुख नहीं समता अपार।।६४।।

जो बीच, बीच बिजली, पल आयुवाली,
ज्योतिर्मयी चमकती, मिटती प्रणाली।
विस्तार है तिमिर का वन में तथापि,
आलोक को निरखते मुनि वे अपापी।।६५।।

तीव्रातितीव्र चलती अतिशीत वायु
तो झाँय झाँय करते तरु साँय साँय।
लाते न किन्तु मुनि वे मन में कषाय,
पाते अतः सुख सही, बनते अकाय।।६६।।

सारी धरा जलमयी नभ मेघ माला,
भानू हुआ उदित हो, पा ना उजाला।
ऐसी भयानक दशा फिर भी स्व-लीन,
वे धन्य हैं अभय हैं, मुनि जो प्रवीन।।६७।।

हेमंत में हितमयी हिम से मही है,
दाहात्मिका किरण भास्कर की नहीं है।
तो भी परीषहजयी ऋषिराज सारे,
निर्ग्रन्थ हो करत ध्यान नदी किनारे।।६८।।

निश्चिंत हो, निडर, निश्चल हो विनीत,
योगी रहे स्वयम् में, यह भव्य रीत।
वे प्रेम से, विनय से, निज गीत गाते,
चांचल्य चित्त तब ही, द्रुत जीत पाते।।६६।।

छाया नहीं विपिन में, गरमी घनी है,
तेजामयी अरुण की किरणें तनी हैं।
पै योग धार, जड़ काय सुखा रहे हैं,
ज्ञानी तभी, अघ कषाय घटा रहे हैं।।७०।।

सत्यार्थ देव गुरू आगम की सुसेव,
आलस्य त्याग मुनि वे करते सदैव।
इच्छा नहीं विषय की रखते कदापी,
संभोग लीन रहते, जग मात्र पापी।।७१।।

अत्यन्त लू चल रही, नभ धूल फैली,
है स्वेद से लथपथी मुनि देह मैली।
हैं ध्यान लीन सब तापस वे तथापि,
निष्कंप मेरु सम, ना डरते कदापि।।७२।।

संतप्त है तपन आतप से शिलाएं,
सुखे हुए सरित हैं सब वाटिकाएं।
देखो! तथापि तपते गिरिपै तपस्वी,
जो पाप, ताप तजते बनते यशस्वी।।७३।।

निंदा करे, स्तुति करे, तलवार मारे,
या आरती मणिमयी सहसा उतारे।
साधू तथापि मन में समभाव धारे,
बैरी सहोदर जिन्हें इकसार सारे।।७४।।

जो जानते भवन को वन को समान,
वे पूजनीय भजनीय अहो! महान।
दुर्गन्ध से न करते बुध लोग ग्लान,
तो फूलते न सुख में, दुख में न म्लान।।७५।।

जो आत्मध्यान करते, करते न मान,
मानापमान जिनको सब हैं समान।
प्रत्यक्ष ज्ञान गहते, भव पार जाते,
वे सिद्ध लौट न कभी भव बीच आते।।७६।।

जो रोष-तज के रहते विराग,
औ भोग को समझते विष-कृष्ण नाग।
वे ही विभो! विमल केवल बोध पाते,
रागी रहे सब दुखी, उर क्रोध लाते।।७७।।

है वीतराग पथ जो न जिसे सुहाता,
निर्भ्रान्त चोर वह दुष्ट, कुधी कहाता।
जाता अतः नरक में अति दुख पाता,
कालुष्य भाव भव में उसको सताता ।।७८।।

सच्चा वही धरम है जिसमें न हिंसा,
होगी नहीं वचन से उसकी प्रशंसा।
आधार मात्र उसका यदि भव्य लेता,
संसार पार करता, बनताऽ रिजेता।।७९।।

कोई पदार्थ जग में न बुरे न अच्छे,
ऐसा सदेव कहते, गुरुदेव सच्चे।
साधू अतः न करते रति, राग, द्वेष
नीराग भाव धरते, धरते न क्लेश।।८०।।

योगी स्वधाम तज बाहर भूल आता,
सद्ध्यान से स्खलित हो अति कष्ट पाता।
तालाब से निकल बाहर मीन आता,
होता दुखी, तड़पता, मर शीघ्र जाता।।८१।।

ज्ञानी कभी मरण से डरते नहीं हैं,
तो चाहते सुचिर जीवन भी नहीं हैं।
वे मानते, मरण जीवन देह के हैं,
ऐसा निरंतर सुचिंतन रे! करे हैं।।८२।।

दीक्षा लिए बहुत वर्ष हमें हुए हैं,
शास्त्रानुसार हमने तप भी किए है।
इत्थं प्रमत्त मुनि हो, मद जो दिखाते,
वे धर्म से सरकते अति दूर जाते।।८३।।

जो आपको समझते सबसे बड़े हैं,
वे धर्म से बहुत दूर अभी खड़े हैं।
मिथ्याभिमान करना सबसे बुरा है,
स्वामी! अतः न मिलता, सुख जो खरा है।।८४।।

मानाभिभूत मुनि, आतम को न जाने,
तो वीतराग प्रभु को वह क्या पिछाने।
जो ख्याति लाभ निज पूजन चाहता है,
ओ? पाप का वहन ही करता वृथा है।।८५।।

तू ने किया विगत में कुछ पुण्य पाप,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लौं, जब लौं न राग,
चिंता नहीं उदय से, बन वीतराग।।८६।।

तू बंध हेतु उदयागत कर्म को ही,
है मानता यदि, कदापि न मोक्ष होगी।
संसार का विलय हो न विधि व्यवस्था,
तो कौन सी फिर तदा तव हो अवस्था।।८७।।

आता यदा उदय में वह कर्म साता,
प्रायः स्वदीय मुख पै सुख-दर्प छाता।
सिद्धान्त का इसलिए तुझको न ज्ञान,
तू स्वप्न को समझता असली प्रमाण।।८८।।

देती नहीं दुख कभी वह जो आसाता,
साता, असात इनसे तब है न नाता।
ना जानते समझते, जड़ तो रहे हैं,
संवेदना न उनमें, उस से परे है।।८९।।

तू धर्म धर्म कहता, उसका न मर्म
है जानता, फिर मिले, किस भांति शर्म।
क्या धर्म है? विदित है न तुझे अभी भी,
तो क्यों मिले शिव तुझे, न मिले कभी भी।।९०।।

सद्बोध भानु जब लौं उगता नहीं है,
आशा-निशा न नशती, तब लौं वही है।
ज्ञानी अतः निरखते, सब को सही हैं,
होते नहीं स्खलित वे गिरते नहीं हैं। ९१।।

हो जाय, राग यदि आतम का स्वभाव,
ना मोक्ष तत्व रहता, सुख का अभाव।
तो विश्व का वितथ हो पुरुषार्थ सारा,
क्यों आयगा फिर प्रभो! भव का किनारा।।९२।।

ना मूढ़ता, विषमता, खलता दिखाती,
मिथ्यात्व और जब निंद्य कषाय जाती।
आत्मा अहो! स्वयम् को लखता तदा है,
पाता सहर्ष अविनश्वर संपदा है।।६३।।

ना अंग-संग मम निश्चय नित्य नाता,
ऐसा निरंतर अहो! समदृष्टि गाता।
औचित्य है, जब मिले, वह मुक्ति राह,
तो देह से न ममता कुछ भी न चाह।।६४।।

जो भद्र भव्य भव से भयभीत होता,
वैराग्य भाव तब है स्वमेव ढ़ोता।
संसार सागर असार अपार क्षार,
यों बार बार करता मन में विचार।।६५।।

विद्रोह, मोह, निज देह सनेह छोड़ो,
और मान के, दमन के सब दाँत तोड़ो।
सम्बन्ध मोक्ष पथ से अनिवार्य जोड़ो,
तो आपको नमन हों मम जो करोड़ों।।६६।।

ना आधि-व्याधि मुझमें, न उपाधियाँ हैं,
मेरा न है मरण ये जड़ पंक्तियाँ हैं।
मैं शुद्ध चेतन निकेतन हूँ निराला,
आलोक सागर, अतः समदृष्टि वाला।।६७।।

मिथ्या दिशा पकड़ के जब तू चलेगा,
गंतव्य थान तुझको न कभी मिलेगा।
कैसे मिले, सुख भले, दुख क्यों टलेगा,
रागाग्नि से जल रहा, चिर और जलेगा।।६८।।

स्वात्मानुभूति-सर में करता न स्नान,
कालुष्य-कालिख कभी न धुले सुजान।
क्यों व्यर्थ ही विषय कर्दम में फँसा है,
भाई वहाँ सुख नहीं, वह तो मृषा है।।६९।।

निस्सार भोग जब है यश कीर्ति सर्व,
तो क्यों करें सुबुध लोग वृथैव गर्व।
वे निर्विकार बन के, तज के विकार,
निश्चिंत होकर करें निज में विहार।।१००।।

प्रत्येक काल उठता, मिटता पदार्थ,
है ध्रौव्य भी प्रवहमान वही यथार्थ।
योगी उसे समझते लखते सदीव,
आनन्द कानुभव वे करते अतीव।।१०१।।

स्वामी! "निजानुभव" नामक काव्य प्यारा,
कल्याण खान, भव नाशक, श्राव्य न्यारा।
जो भी इसे विनय से पढ़, आत्म ध्यावे,
"विद्यादिसार" बन के, शिव सौख्य पावे।।१०२।।

दोहा

अजयमेर के पास है ब्यावर नगर महान्
धरा वर्षा योग को ध्येय स्व-पर कल्याण ।।१०३।।

नव नव चउद्वय वर्ष की,
सुगन्ध दशमी आज।
लिखा गया यह ग्रन्थ है,
निजानन्द के काज ।।१० ४।।

।। निजानुभवाय नमः।।

मुक्तक शतक

मुक्तक शतक

निगोद में रचा पचा,
कोई भी भव न बचा,
तथापि सुख का न शोध,
हुआ रहा मैं अबोध।।१।।

प्रभो! सुकृत उदित हुआ,
फलतः मैं मनुज हुआ,
दुर्लभ सत्संग मिला,
मानो यही सिद्धशिला।।२।।

फिर गुरु उपदेश सुना,
जागृत हुआ सुन गुना,
ज्ञात हुआ स्व - पर भेद,
व्यर्थ करता था खेद।।३।।

विदित हुआ मैं चेतन,
ज्ञान - गुण का निकेतन,
किन्तु तन, मन अचेतन,
जिन्हें न निज का सम्वेदन।।४।।

चेत चेतन चकित हो,
स्वचिन्तन वश मुदित हो,
यों कहता मैं भूला,
अब तक पर में फूला।।५।।

अब सर्वत्र उजाला,
शिव - पथ मिला निराला,
किस बात का मुझे डर,
जब जा रहा स्वीय घर।।६।।

यह है समकित प्रभात,
न रही अब मोह रात,
बोध - रवि - किरण फूटी,
टली भ्रम - निशा झूठी।।७।।

समता अरुणिमा बढ़ी,
उन्नत शिखर पर चढ़ी,
निज - दृष्टि निज में गड़ी,
धन्यतम है यह घड़ी।।८।।

अनुकम्पा - पवन भला
सुखद पावन बह चला,
विषमता - कण्टक नहीं,
शिव - पथ अब स्वच्छ सही ।।९।।

यह सुख की परिभाषा,
रहे न मन में आशा,
ऐसी हो प्रतिभासा,
परितः पूर्ण प्रकाशा।।१०।।

कुछ नहीं अब परवाह,
जब मिटी सब कुछ चाह,
दुख टला, निज - सुख मिला,
मम उर दृगपद्म खिला।।११।।

"विद्या" अविद्या छोड़,
कषाय कुम्भ को फोड़,
कर रहा उससे प्यार,
भजो सत्चेतना नार।।१२।।

मुनि वशी निरभिमानी,
निरत निज में विज्ञानी,
जिसे नहिं निज का ज्ञान,
वह करता मुधा मान।।१३।।

सुन - सुन मानापमान,
दुखदायक अध्यवसान,
सुधी बस उन्हें तजकर,
निजानुभव करें सुखकर।।१४।।

विषय - कषाय वश सदा,
दुःख सहता मूढ़ मुधा,
निज निजानुभव का स्वाद,
बुधजन लेते अबाध।।१५।।

यह योगी का विचार,
हैं ज्ञान के भण्डार,
सभी संसारी जीव,
द्रव्य - दृष्टि से सदीव।।१६।।

रखें नहिं सुधी परिग्रह,
करें सदा गुण - संग्रह,
नमें निज निरञ्जन को,
तजें विषय - रञ्जन को।।१७।।

पर - परिणति को लखकर,
जड़मति बिलख - हरख कर।
कर्मों से है बंधता,
वृथा भव - वन भटकता।।१८।।

मुनि ज्ञानी का विश्वास,
मम हो न कभी विनाश,
और हूँ नहीं रोगी,
फिर व्यथा किसे होगी।।१९।।

मैं वृद्ध, युवा न बाल,
ये हैं जड़ के बबाल,
इस विधि सुधी जानता,
सहज निज सुख साधता।।२०।।

पुष्पहार से नहिं तोष,
करे न विषधर से रोष,
पीता निशिदिन ज्ञानी,
शुचिमय समरस पानी।।२१।।

अबला सबला नहिं नर,
ना मैं नपुंसक वानर।
नहिं हृष्ट, पुष्ट, कुरूप,
हूँ इन्द्रियातीत अरूप।।२२।।

ललित लता सी जाया,
है संध्या की छाया।
औ सुभग यह काया,
केवल जड़ की माया।।२३।।

पावन ज्ञान - धन - धाम,
अनन्त गुणों का ग्राम।
स्फटिक सम निर्विकार,
नित निज में मम विहार।।२४।।

पर - द्रव्य पर अधिकार,
नहिं हो इस विध विचार,
जानना तेरा काम,
कर तू निज में विश्राम।।२५।।

योग - मार्ग बहुत सरल,
भोगमार्ग निश्चय, गरल।
स्वानुभावामृत तज कर,
विषय-विष-पान मत कर।।२६।।

क्यों भटकता तू मुधा,
क्यों दुख सहता बहुधा।
तब मिटेगी यह क्षुधा
जब मिलेगी निज सुधा।।२७।।

क्यों बनता तू बावला,
सोच अब निज का भला।
यह मनुज में ही कला,
अतः उर में समभाव ला।।२८।।

यदि पर संग सम्बन्ध,
रखता, तो करम बन्ध,
फिर भवकूल, किनारा,
न मिले तुझे सहारा।।२६।।

परन्तु मूढ़ भूल कर,
स्व को नहिं मूल्य कर।
पर को हि अपना रहा,
मृषा दुःख उठा रहा।।३०।।

तू तजकर मोह - तृषा,
अरे! कर निज पर कृपा।
होगा न सुखी अन्यथा,
यह बात सत्य सर्वथा।।३१।।

अरे! लक्ष्यहीन तव प्रवास,
तुझको दे रहा त्रास।
मति सुधारनी होगी,
चाल बदलनी होगी।।३२।।

राग नहीं मम स्वभाव,
द्वेष है विकार भाव।
यों समझ उनको त्याग,
बन जिन - सम वीतराग।।३३।।

कर अब आतम अनुभव,
फलतः हो सुख सम्भव।
मिट जाये दुख सारा,
मिल जाये शिव प्यारा।।३४।।

दृग - विद्या - व्रत, रत्नत्रय।
करे प्रकाशित जगत्त्रय।
जो इनका ले आश्रय,
अमर बनता है अभय।।३५।।

आत्मा कभी न घटता,
मिटता, कभी न बढ़ता।
परन्तु खेद, यह बात,
मूढ़ को नहिं है ज्ञात।।३६।।

मूढ़ गूढ़ स्वतत्व भूल,
पर में दिन - रात फूल।
दुःख का वह सूत्रपात,
कर रहा निज का घात।।३७।।

मुख से निकले न बोल,
मन में अनेक कल्लोल।
नित मूर्ख करता रोष,
निन्द्यतम अघ का कोष।।३८।।

स्मरण - शक्ति चली गई,
लोचन - ज्योति भी गई।
पर जिसकी विषय - चाह
भभक - भभक उठी दाह।।३९।।

देह जरा - वश जर्जरित,
हुआ मुख - कमल मुकुलित।
तथा समस्त मस्तक पलित,
जड़ की तृष्णा द्विगुणित।।४०।।

यह सब जड़ का बबाल,
मैं तो नियमित निहाल।
जिसको पर विदित नहीं
कि यह मम परिणति नहीं।।४१।।

मोह - कर्दम में फँसा,
उल्टी मूढ़ की दशा।
रखता न स्व - पर विवेक,
सहता कष्टातिरेक।।४२।।

है स्व - पर की पहिचान,
शिवसदन का सोपान।
पर को अपना कहना,
केवल भव - दुःख सहना।।४३।।

यदि हो स्व - पर बोध,
फिर उठे नहिं उर - क्रोध।
मूर्ख ही क्रोध करता,
पुनि - पुनि तन गह; मरता।।४४।।

जब हो आत्मानुभूति,
निश्चिन्त सुख की चिन्मूर्ति,
मिलती सहज चिन्मूर्ति,
द्युतिमय शुचिमय विभूति।।४५।।

स्वयं से परिचित नहीं,
भटकता भव में वही।
पग - पग दुःख उठाता,
पाप - परिपाक पाता।।४६।।

विद्या बिन, चारित्र वृथा,
जिससे न मिटती व्यथा।
फिर सहज शुद्ध समयसार,
क्यों मिले फिर विश्वास।।४७।।

कभी मिला सुर - विलास,
तो कभी नरक - निवास
पुण्य - पाप का परिणाम,
न कभी मिलता विश्राम।।४८।।

मूढ़ पाप से डरता,
अतः पुण्य सदा करता।
तो संसार बढ़ाता,
भव - वन चक्कर खाता।।४९।।

पाप तज पुण्य करोगे,
तो क्या नहीं मरोगे।
भले हि स्वर्ग मिलेगा,
भव - दुख नहीं मिटेगा।।५०।।

प्रवृत्ति का फल संसार,
निवृत्ति सुख का भण्डार।
पहली अहो पराश्रिता,
दूजी पूज्य निजाश्रिता।।५१।।

मत बन किसी का दास,
पर बन; पर से उदास।
फलतः कर्मों का नाश,
उदित हो बोध - प्रकाश।।५२।।

अतः मेरा सौभाग्य,
मुझको हुआ वैराग्य।
पुण्य - पाप है नश्वर,
शुद्धातम वर ईश्वर।।५३।।

सुख - दुःख में समान मुख,
रहे; तब मिले शिव - सुख।
अन्यथा बस दुस्सह दुख,
ऊर्ध्व, अधो, पार्श्व, संम्मुख।।५४।।

स्नान स्वानुभव सर में,
यदि हो, तो पल भर में।
तन - मन निर्मलतम बने,
अमर बने मोद घने।।५५।।

सब पर भव - परम्परा,
यों लख तू स्वयं जरा।
निज में धन अमित भरा,
जो है अविनश्वर और खरा।।५६।।

आलोकित लोकालोक,
करता नहीं आलोक।
जो तुझ में अव्यक्त रूप,
व्यक्त हो, तो सुख अनूप।।५७।।

क्यों करता व्यर्थ शोक,
निज को जान, मन रोक।
बाहर दिखती पर्याय,
आभ्यन्तर द्रव्य सुहाय।।५८।।

विद्या - रथ पर बैठकर,
मनोवेग निरोध कर।
अब शिवपुर है जाना,
लौट कभी नहिं आना।।५९।।

झर - झर झरता झरना,
कहता चल - चल चलना।
उस सत्ता से मिलना,
पुनि - पुनि पड़े न चलना।।६०।।

लता पर मुकुलित कली,
कभी - कभी खुली, खिली।
कभी गिरी, परी मिली,
सब में वही सत् ढली।।६१।।

सकल पदार्थ अबाधित,
पल - पल तरल प्रवाहित।
होकर भी ध्रुव त्रिकाल,
जीवित शाश्वत निहाल।।६२।।

रवि से जन, जल जलता,
वही वाष्प में ढलता।
जलद बन, पुनि पिघलता,
सतत है सत् बदलता।।६३।।

गुण वश प्रभु, तुम - हम सम,
पर पृथक्, हम भिन्नतम।
दर्पण में कब दर्पण,
करता निजपन अर्पण।।६४।।

राम - राम, श्याम - श्याम,
इस रटन से विश्राम।
रहे न काम से काम,
बन जाऊँ मैं निष्काम।।६५।।

क्षणिक सत्ता को मिटा,
महासत्ता में मिला।
आर - पार तदाकार,
निराकार मात्र सार।।६६।।

मन पर लगा लगाम,
निज दीप जला ललाम।
सकल परमार्थ पदार्थ,
प्रतिभासित हो यथार्थ।।६७।।

बन्द कर नयन - पुट को,
लखता अन्तर्घट को।
दिखती फैली लाली,
न निशा मैली काली।।६८।।

इच्छा नहिं कि कुछ लिखूँ
जड़ार्थ मुनि हो बिकूँ।
जो कुछ होता लखना,
लेखक बन नहिं लिखना।।६६।।

स्मृति में कुछ भी लाना,
ज्ञान को बस सताना।
लेखनी लिखती रहे,
आत्मा लखती रहे।।७०।।

दृग, चरण गुण अनमोल,
निस्पन्द अचल अलोल।
मत इन्हें जड़ पर तोल,
अमृत में विष मत घोल।।७१।।

अमूर्त की मृदुता में,
सिमिट - सिमिट रहता मैं।
धवल कमल की मृदुता,
नहिं रुचती अब जड़ता।।७२।।

सरस - विरस से ऊपर,
उठकर, रसगुण चखकर।
मम रसना जीवित है,
प्रमुदित उन्मीलित है।।७३।।

लाल - लाल युगलगाल,
साम्य के सरस रसाल।
चूस - चूस तुष्ट हुई,
रसना सम्पुष्ट हुई।।७४।।

मति - मती मम नासिका,
ध्रुव गुण की उपासिका।
न दुर्गन्ध - सुगन्ध से,
प्रभावित है गन्ध से।।७५।।

रूप विरूप को लखा,
चिर तृषित नयनों चखा।
पर अनुपम रूप यहाँ,
जग में सुख - कूप कहाँ?